बाल-साहित्य—३७

राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू
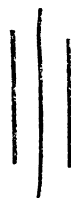
रामरतन भटनागर

बाल भारती – इलाहाबाद

मूल्य ।=)

बालक राजेन्द्र

आधुनिक भारत के आज़ादी के दिन को पास लाने के लिए जिन महापुरुषों ने पिछले ३०-३२ वर्ष रात-दिन अथक परिश्रम किया उनमें देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद भी अग्रगण्य हैं। कांग्रेस ने तीन बार उन्हें राष्ट्रपति चुना। स्वतंत्र भारत की विधान-सभा के वे सभापति बने। अभी कल तक वे स्वतंत्र भारत के मंत्री-मंडल के सदस्य थे। देश के चौंतीस करोड़ मुँहों को खिलाने-पिलाने की व्यवस्था उन्हें करनी पड़ी। ऐसे समय में जब अकाल और उपद्रवों के कारण देश पर विपत्ति के बादल छा रहे थे, उन्होंने इस महान राज्य को किसी तरह जीता रखा। अब वे फिर कांग्रेस के सभापति हैं। देश की सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था के सभापति के नाते वे उतने ही महत्वपूर्ण हैं।जितने प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू। कल तक कांग्रेस का सभापति सचमुच राष्ट्रपति था। आज देश स्वतंत्र हो गया है। राष्ट्र की नौका की पतवार प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के हाथ में है। परन्तु देश की जनता का नेतृत्व कांग्रेस का सभापति ही करता है।

दुबला-पतला, दमे का मारा लम्बा शरीर, उसपर तेजस्वी मुखमंडल और उस मुखमंडल में सहज स्नेह से डबडबाये हुए दो करुणा-भरे नेत्र! सिर पर गाँधी टोपी और हाथ में लंबी छड़ी! कछनी के ढंग पर बँधी घुटनों से कुछ ही नीचे लटकती धोती। —यही राजेन्द्र बाबू हैं। कल तक ऊपर वाले होठ पर बड़ी-बड़ी मूँछे छाया कर रही थीं। आज वह वहाँ नहीं हैं। परन्तु मूँछे रहने न रहने से क्या आता जाता है। उस मुस्कुराते हुए सहज गम्भीर चेहरे पर हँसी आज भी उसी तरह फूटी पड़ती है जिस तरह कल फूटती थी। विहार के किसान का सौम्य मुख और निश्छल व्यवहार राजेन्द्र बाबू में पूरा-पूरा झलक सका है। हमारे नेताओं में वही सबसे अधिक धरती के निकट रहे हैं।

हमारे नेताओं ने बड़ा आँधी-पानी सहा है। न जाने कितने मित्र शत्रु बन गये, न जाने कितने शत्रु मित्र बन गये। आज़ादी की लड़ाई कुछ इसी तरह लड़ी जाती है। जो आज आप पर प्राण दे रहे हैं, वही कल प्राण लेने को तैयार! परन्तु भारत के राजनीति के मंच पर एक अजात शत्रु भी है। वह हैं यही हमारे राजेन्द्र बाबू। उन्हें 'साधु' कहिये, 'संत' कहिये, 'महाशय' कहिये, 'महोदय' कहिये —सब खप जाता है। चालीस करोड़ हिन्दू-मुसलमानों—

सिखों-पारसियों-ईसाइयों में यही एक व्यक्ति ऐसा है जिसके विरुद्ध किसी के पास एक भी शब्द नहीं ! ये सब के हैं, सब इनके। जो फूलों से लदी हरी डाली की तरह ज़रा-सा दबाव पड़ते ही लचक जाना जानता है, उससे कोई क्या लड़ेगा। पटेल वज्र की तरह भीषण चोट कर सकते हैं, नेहरू दुःख, उत्पीड़न और नृशंसता देखकर सिंह की तरह तड़प कर बफर सकते हैं; विश्ववंद्य महात्मा गांधी औरों के लिये नहीं तो अपनों पर तो निश्चय ही कठोर बन सकते थे—परन्तु साधु राजेन्द्र बाबू न प्रहार जानते हैं, न गर्जन, न कठोरता। वह तो निर्मल जल की तरह सब कुछ सहते हुए गले ही जा सकते हैं। जगततारिणी मा गंगा की तरह वह सबके लिए सुलभ, सब के दुख से दुखी, सब के सुख के लिए प्रयत्नशील रहे हैं।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि राजेन्द्र बाबू बिहार के रत्न हैं परन्तु बहुत से मनुष्य यह नहीं जानते कि उनका परिवार संयुक्त प्रान्त से बिहार गया है। उनके पूर्वज संयुक्त प्रांत के किसी अमोढा स्थान के रहने वाले थे। वहाँ से निकलकर वे पूर्व की ओर चले और कुछ दिन बलिया में रहे। एक बड़े जमाने तक बलिया में रहने के बाद उस परिवार की एक शाख उत्तर की ओर और जिला सारन (बिहार) के एक गाँव जीरादेई में रहने लगी। जीरा-

देई वाली शाखा से ही राजेन्द्र बाबू का सम्बन्ध है। जीरा-देई में आने के कुछ समय बाद इस परिवार का सम्बन्ध हथुआ राज से हो गया। यह सम्बन्ध कई पीढ़ियों तक चलता रहा।

राजेन्द्र बाबू के दादा दो भाई थे—मिश्रीलाल और चौधुरलाल। चौधुरलाल बड़े थे। मिश्रीलाल का देहांत बहुत छोटी उम्र में ही हो गया। उनके एक मात्र पुत्र महादेवसहाय ही हमारे चरित्रनायक के पिता थे। चौधुर-लालजी ने अपने पुत्र जगदेवसहाय और भतीजे महादेव-सहाय को एक ही प्रेम से पाला। जगदेवसहाय के कोई पुत्र नहीं हुआ। इसलिये राजेन्द्र बाबू और उनके भाई को दादा का प्यार सदैव भरपूर मिला। राजेन्द्र बाबू के बड़े भाई महेन्द्रप्रसाद थे। अपनी आत्मकथा में उनके प्रति अपने प्रेम और श्रद्धा का राजेन्द्र बाबू ने विस्तारपूर्वक लिखा है।

हथुआ राज कोई बड़ा राज नहीं है। उस समय वह इतना बड़ा भी नहीं था जितना आज है। परन्तु इस आज के हथुआ राज की समृद्धि में चौधुरलालजी का बड़ा हाथ रहा है। प्रायः २५-३० वर्षों तक वह इस राज के दीवान रहे। इन वर्षों में उन्होंने राज को अनेक आपत्तियों से बचाया और स्वयं भी छोटी-मोटी ज़मीदारियाँ ख़रीद

लीं। इस जमींदारी की आमदनी ७-८ हजार वार्षिक थी। हथुआ राज से चले आने के बाद चौधुरलालजी अपने गाँव जीरादेई में ही रहे। वहाँ उनके कारण इस कायस्थ परिवार का बड़ा मान था।

पाँच भाई-बहनों में राजेन्द्र बाबू सबसे छोटे थे। उनके समय तक परिवार काफी समृद्ध हो गया था। दादा चौधुरलालजी घर ही पर रहते। उनके पिता महादेव-सहाय भी घर ही रहते। ज़मींदारी का काम चाचा जगदेव-सहाय देखते। दादा-पिता, दादी-माता के लाड़-चाव में पलकर बालक राजेन्द्र बड़े होने लगे।

अपने बचपन के दिनों का राजेन्द्र बाबू ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। अपने दादा के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं और मेरे चाचा की लड़की, जो मुझसे पाँच-छः महीने छोटी थी, उनके बदन पर लोट-पोट करके खेला करते।" बचपन की बात ले यों लिखते हैं—"मेरे चचा साहब ज़मींदारी का इन्तज़ाम करते और अक्सर छपरे आया-जाया करते जहाँ ज़मींदारी के मुकदमे, जो हमेशा कुछ न कुछ लगे ही रहते हैं, हुआ करते। मेरे भाई साहब छपरे अँग्रेजी पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे। जब-तब उनको देखने के लिए भी वही जाया करते। जब कभी उनके छपरे से आने की खबर मिलती,

हम बच्चे घर से कुछ दूर जाकर ही, उनका स्वागत करते। स्वागत का अर्थ था उनसे मिठाई, फल इत्यादि की माँग पेश करना और जो कुछ मिल जाय, उसे लेकर उनसे पहले ही दौड़कर घर पहुँच माँ को दिखलाना।

मेरे पिताजी घर पर ही रहा करते थे। ज़मींदारी के इन्तज़ाम से उनका कम ही सरोकार था। उनको बाग़ लगाने का शौक़ था। वह बहुत समय बाग़-बगीचे में ही लगाते। आज भी उनके लगाये आम के दो बड़े-बड़े बगीचे हम लोगों के कब्जे में हैं जिनमें अच्छे-अच्छे आम पैदा होते हैं। वह फ़ारसी के अच्छे विद्वान थे। कुछ-कुछ संस्कृत भी जानते थे। आयुर्वेद और ज्योतिष में उनकी दिलचस्पी थी। इन विषयों की पुस्तकों का संग्रह भी कर रखा था और उनका अध्ययन भी किया करते थे। वह इस तरह बिना बाज़ाब्ता शिक्षा पाये चतुर वैद्य या हकीम हो गये थे। उनके पास तरह-तरह के रोगी आया करते। जो दवा खरीद सकते उनको नुस्खे लिखकर देते। गरीबों को अपने पास से दवा भी देते। उनके साथ एक नौकर हमेशा दवा तैयार करने के लिए ही रहता। कभी किसी की नाड़ी नहीं देखते थे और न किसी के घर जाकर रोगी को ही देखते थे, हालत सुनकर ही दवा देते और बहुतेरे आराम भी हो जाते। इससे यश फैला था। वह शरीर से भी अच्छे पुष्ट थे।

बचपन में कुछ कसरत भी अखाड़े में उन्होंने की थी। मुझे याद है जब मैं स्कूल या कालेज में पढ़ता था और छुट्टियों में घर आया करता था, तो वह स्वयं मुगदर भाँजकर तरह-तरह के खेल सिखलाते थे। बचपन में मुझे और भाई साहब को घोड़े की सवारी करना भी उन्होंने सिखलाया था। छोटी ही उम्र में हम दोनों भाई दो घोड़ों पर सवार होकर कभी-कभी छुट्टियों में जीरादेई आने पर, घूमने-फिरने जाया करते।

लड़कपन में हम लोग देहाती खेल भी खेला करते। खास करके वहाँ का प्रचलित खेल कबड्डी और चिक्का तो हम खूब खेलते। प्रायः कोई दिन बिना खेले नहीं बीतता होगा। यह खेल उस समय तक जारी रहा जब तक कालेज की पढ़ाई खतम नहीं हुई। जब कभी छुट्टियों में हम जीरादेई आते थे, खेल जरूर खेलते जिसमें भाई भी शरीक होते। एक खेल और गाँवों में प्रचलित था। उसे 'दोल्हा-पाती' कहते हैं। उसमें गाछों पर चढ़ना होता है। मैं गाछों पर चढ़ने से डरता था, इसलिये उस खेल में कभी शरीक नहीं हुआ। इसी प्रकार गाँव में बहती नदी के अभाव में, तैरना भी नहीं सीख सका।

माता और दादी मुझे बहुत प्यार करतीं। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं संध्या को बहुत जल्द सो जाता था

और उधर कुछ रात रहते ही, बहुत सबेरे ही, जाग जाता था। घर पक्का था, पर बना था पुराने तरीके पर। बीच में आँगन और चारों ओर ओसारे और कमरे। कमरों में एक दरवाज़ा और छप्पर के नज़दीक हर कमरे में एक या दो छोटे-छोटे रोशनदान। जाड़ों में खास करके, लंबी-लंबी रात होने के कारण, रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय से माँ को भी मैं सोने नहीं देता। रजाई के भीतर ही भीतर उनको जगाता। वह जागकर पराती (प्रभाती) भजन सुनातीं। कभी-कभी रामायण इत्यादि की कथाएँ भी सुनातीं। उन भजनों और कथाओं का असर मेरे दिल पर पड़ता। इसी प्रकार जब तक रोशनदान में बाहर की रोशनी नज़र नहीं आती, पड़ा रहता और माँ से भजन गवाता रहता या कथा कहलाता रहता। जब रोशनी खूब आ जाती तब घर से बाहर निकलता। संध्या को इतना पहले सो जाता कि शायद ही कभी रात का खाना जागते-जागते खाया हो। उन दिनों रात का खाना भी बहुत देर के बाद तैयार होता। बच्चे क्या, बूढ़े लोग भी एक नींद सोकर उठने के बाद ही खाना खाते। शायद ही किसी रात को १२-१ बजे के पहले खाना खाया हो। पहले घर के पुरुष खाते, तब स्त्रियाँ खातीं और तब नौकर खाते। गर्मी के मौसम में तो नौकरों के खाते-खाते कभी-कभी सबेरा तक हो जाता।"

× × "मुझे स्मरण है कि हमेशा रात को मुझे जगाकर खिलाया जाता। आँखें खुलती नहीं, पर बदन हिलाकर माँ मैना सुग्गा के नाम और किस्से कहकर मुँह तो खुलवा देतीं और उसमें भोजन दे देतीं। × × ।"

पाँचवे-छठे वर्ष में बालक राजेन्द्र पढ़ने बैठे। उस समय जैसा कायस्थ परिवारों में होता था, अक्षरारंभ मौलवी साहब ने किया। 'बिस्मिल्लाह' हुआ। मिठाई बँटी। दो चचेरे भाई भी साथ पढ़ने को बैठे। इनमें से एक का नाम यमुनाप्रसाद था। ये बड़े शैतान और चुलबुले थे। मौलवी साहब को चरका देने में वही 'लीडर' बनते। बलदेव चचा को इन मौलवी साहब को बनाने में मजा आता है। ये लड़के बड़ी प्रसन्नता से तमाशा देखते। कभी-कभी दादा चौधुर-लालजी भी हँसी-मजाक में मिल जाते। यह मौलवी साहब सात-आठ महीने रहे। फिर दूसरे मौलवी आये जिनसे दो वर्ष के भीतर करीमा, मामकीमा, खालकबारी, खुशहाल सीमिया, दस्तूरुल सीमिया, गुलिस्ताँ और बोस्ताँ पढ़ी।

उस समय के बच्चों को आज के बच्चों की तरह एक दम स्कूल नहीं भेज दिया जाता था। पहले किसी मकतब की ड्यौढ़ियाँ पार करनी पड़तीं। अधिकतर पढ़ाई का अर्थ होता रटना—जिसे 'आमोख्ता करना' कहा जाता।

मौलवी साहब कभी तख़्त पर बैठते, कभी खाट पर। लड़के जमीन में टाट बिछाकर बैठते। सबेरे आकर पहले का पढ़ा हुआ सबक़ एक बार आमोख्ता करना पड़ता और जो जितना जल्द आमोख्ता कर लेता उसको उतना ही जल्द नया सबक़ पढ़ा दिया जाता। फिर तीसरे पहरे दूसरा सबक़ मिलता और उसको कुछ हद तक याद करके सुनाने के बाद घंटा-डेढ़-घंटा दिन रहते खेलने के लिए छुट्टी मिलती। संध्या को फिर चिराग़-बत्ती जलते किताब खोल-कर पढ़ने के लिए बैठना पड़ता। दिन के दोनों सबक़ याद करके फिर सुनाने पड़ते और तब हुक्म होता, किताब बन्द करो।

पढ़ाई की मुसीबत सुनिये—"संध्या को जल्द नींद आती। इससे हमेशा डर रहता कि कहीं झुकते देखकर मौलवी साहब मार न बैठें। जल्द छुट्टी के लिए दो उपाय थे। खेल-कूद में 'यमुना' भाई लीडर थे और जल्द छुट्टी पाने का उपाय भी वही करते। पढ़ने के लिए तेल देकर दिया जलाया जाता था। जमुना भाई दिन को ही कपड़े में राख या धूल बाँधकर छोटी-सी पोटली बनाकर छिपाकर रख लेते। जिस दिन दिया में अधिक तेल देखने में आता, चिराग़ की बत्ती उकसाने के बहाने, छिपाकर पोटली दिया में रख देते। वह देखते-देखते तेल सोख लेती

और जल्द दिया बुझने पर आ जाता। मौलवी साहब दाई पर रंज होते कि तेल क्यों कम लाई, पर मज़बूर होकर जल्द ही किताब बंद करने का हुक्म दे देते।"

यों बालक राजेन्द्र का बचपन की लिखाई-पढ़ाई का जीवन चलता रहा। परन्तु यह मारा जीवन उतना कड़ा और नीरस नहीं था जितना शायद तुम आज समझो। जीरादेई में दो हज़ार की बस्ती थी। गाँव के इस जीवन के अपने आनन्द भी थे। उन दिनों गाँव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। सब कुछ प्रायः गाँव में ही मिल जाता। गाँव के बाज़ार और पैंठ का बालकों के लिए अपना ही आकर्षक होता। कुछ दूर पर 'सीवान' का कस्बा था। उससे कभी-कभी तरह-तरह की चीजें आ जातीं और बच्चे बड़े खुश होते। खाने-पीने की गाँव में कमी नहीं थी। आम और केले तो अपने बाग़ में ही बहुत होते। कभी-कभी जाड़ों में नारंगी-नीबू की टोकरी लिए सीवान के आदमी आ जाते और यह बच्चे इतने खुश होते कि मानों स्वर्ग मिल गया।

गाँव में दो छोटे-छोटे मठ थे जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। वह सुबह शाम घंटा बजाकर आरती करते थे। कभी-कभी बालक राजेन्द्र और उनके भाई भी जाते। रामनौमी और जन्माष्टमी के अवसरों पर मठ सजते। सब

बच्चे कागज और पत्ती के फूल काटकर ठाकुरबाड़ी के दरवाजों और सिंहासनों को सजाते। इन सब उत्सवों में हमारे चरित्रनायक शरीक होते। वे व्रत रखते। दधिकांदो के खेल खेलते। रामायण की कथा तो अक्सर उनके दरवाजे पर हुआ करती। इस प्रकार हिन्दू धर्म और उसके आचार-विचारों का बालक राजेन्द्र पर गहरा प्रभाव पड़ा रामलीला, होली और दीपावली, ईद और मुहर्रम और घर की स्त्रियों के अनेक कथा-व्रत उस समय भी इसी तरह प्रचलित थे जिस तरह आज हैं। परन्तु उन दिनों के बालक आज के बालकों की तरह इन उत्सवों से अलग-थलग नहीं रहते थे। हिन्दू-मुसलमान अपने-अपने उत्सव मनाते, परन्तु एक दूसरे के उत्सवों और तीज त्यौहारों में भी योग देते। इन सब सामाजिक व्यवहारों ने उस समय के गाँव के जीवन में मनोरंजन और शिक्षा का अच्छा समावेश कर दिया था। गाँव के ऐसे स्वच्छ, निश्छल और धार्मिक वातावरण में बालक राजेन्द्र का विकास हुआ। यह स्पष्ट है कि हमारे नेताओं में से अधिकांश शहरों से आये हैं। धरती से जितना निकट का सम्बन्ध राजेन्द्र बाबू का है, उतना उनका नहीं। इसीसे धरती के अनेक गुण भी उनमें हैं। सहनशीलता, विनय, कर्मठता, निश्छल व्यवहार और सादगी में वे अद्वितीय हैं। भारतीय गाँव की सारी सुषमा उनमें भर गई है।

पढ़ाई और वकालत

मध्यवित्त के कायस्थ घराने में बालक अपढ़ा नहीं रह सकता था। पढ़ाई से ही उसे सम्मान मिलता था। राजेन्द्र बाबू की प्रारम्भिक पढ़ाई घर पर हुई। मौलवी साहब ने उन्हें फारसी का अच्छा ज्ञान करा दिया। कुछ दिनों छपरे में भी पढ़े परन्तु प्रारम्भिक पढ़ाई बहुत कुछ जीरादेई में ही हुई। फिर कुछ दिनों बाद एक बार फिर छपरे गये और इस बार जिला स्कूल के आठवें दरजे में (जो उन दिनों सबसे पहला दरजा था) उनका नाम लिखा गया। १०-११ वर्ष की अवस्था में डबल इम्तहान में दो तीन दरजे लाँघकर भाई के साथ पटने चले गये और टी० के० घोष एकेडमी में पढ़ने लगे। दो वर्ष बाद भाई एफ० ए० की परीक्षा पास करके कलकत्ते पढ़ने चले गये। पटना अकेले रहना असम्भव था। इसलिए कुछ दिन हथुआ स्कूल में और फिर छपरा स्कूल में पढ़े। छपरा स्कूल से ही छात्रवृत्ति के साथ इन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। छपरा-स्कूल में पढ़ते समय हिन्दू आस्तिक भाव और भी गहरे हो गये। यह वहाँ के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी पंडित विक्रमा-दित्य मिश्र के संसर्ग का फल था। घर पर कुछ संस्कृत

पढ़ना भी आरंभ हुआ और लघु कौमुदी के सूत्र घोटे जाने लगे। यह क्रम बहुत दिनों तक नहीं चला परन्तु चरित्रगठन में छपरा-स्कूल के उन दिनों ने बड़ी सहायता की, इसमें कोई सन्देह नहीं।

राजेन्द्र बाबू के अगले पंद्रह वर्ष कलकत्ते में बीते। बड़े भाई पहले से ही इर्डन हिंदू होस्टल में रहा करते थे और डफ कालिज में एम० ए० (इतिहास) और रिपन कालेज में कानून (बी० एल०) पढ़ रहे थे। यह भी डफ कालेज में दाखिल हुए। यहाँ विश्वविख्यात पंडितों के चरणों में बैठकर अनेक विषय पढ़े। सर जगदीश चंद्र बोस पदार्थ विज्ञान पढ़ाते और डाक्टर पी० सी० राय रसायन शास्त्र। अँग्रेजी, इतिहास, तर्कशास्त्र और गणित भी पढ़ना पड़ता। एफ० ए० की परीक्षा में भी सबसे ऊपर आये और दो वर्षों के लिए पच्चीस रुपये मासिक की छात्रवृत्ति पाई। पहले मन का रुझान विज्ञान की ओर था, परंतु इस परीक्षा में अधिक परिश्रम करने पर भी गणित में अच्छे अंक नहीं मिले थे। इसलिए आगे विज्ञान पढ़ने की बात छोड़ दी। बी० ए० में भी अव्वल रहे और नब्बे रुपयों की दो छात्र-वृत्तियाँ पाईं। जब एम० ए० की परीक्षा दे रहे थे, तो पिता का देहांत होगया। फलतः एम० ए० में अव्वल नहीं आ सके। १९०८ ई० की जुलाई में मुज़फ़्फ़रपुर में

प्रोफेसर हो गये परन्तु वहाँ ९-१० महीनों तक काम करके १९०९ ई० के मार्च में फिर कलकत्ते चले आये और वहाँ बी०-एल० की परीक्षा पास की। १९१० में बी०-एल० पास करके वकालत शुरू की और साथ ही एम०-एल० की परीक्षा की तैयारी करने लगे। १९१५ में यह परीक्षा भी बड़े अच्छे नम्बरों के साथ पास की।

इस तरह १९१५ ई० में विद्यार्थी जीवन समाप्त हो गया। वैसे १९१० ई० से थोड़ी-बहुत वकालत शुरू कर दी थी, परन्तु १९१६ में जब पटना हाईकोर्ट खुला तो कलकत्ता हाईकोर्ट के और वकीलों की तरह ये भी पटने चले आये। वहीं भाड़े का एक मकान लेकर रहने लगे। वकालत का काम असहयोग के समय (१९२१) तक चलता रहा।

१९१० ई० में जब वकालत की परीक्षा के लिये पढ़ रहे थे तभी गोखले से भेंट हुई और एकाएक यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ की वकालत की जाय या नहीं ? गोखले इन दिनों 'सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के काम के लिये पटना आये थे। वह चाहते थे कि विहार के कुछ अच्छे नवयुवक उसमें शरीक हो जायें। उन्होंने देश सेवा पर ज़ोर दिया। कहा—"हो सकता है कि तुम्हारी वकालत खूब चले, तुम बहुत रुपये पैदा कर सको, बहुत आराम

और ऐश-इशरत के दिन बिताओ। बड़ी-कोठी, घोड़ा-गाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान, जो अमीरों के पास हुआ करते हैं, तुमको सब मयस्सर हों। पर मुल्क का भी दावा कुछ लड़कों पर होता है, और चूँकि तुम पढ़ने में अच्छे हो, इसलिये तुम पर यह दावा और भी अधिक है।" गोखले के तर्क काटे नहीं जा सकते थे। इन बातों ने युवक राजेन्द्र प्रसाद के हृदय में खलबली मचा दी। मन में बड़ी उथल-पुथल हुई। स्वयं राजेन्द्र बाबू के शब्दों में—"हम दोनों उनकी बातों पर विचार करने लगे। मुझे कई दिनों तक नींद नहीं आई। खाना-पीना सब कुछ बरायनाम रह गया। स्वदेशी के दिनों में देश की बातें सामने आती थीं। देश-सेवा की भावना भी जब-तब जाग्रत होती थी। पर इसके पहले कभी इस तरह से यह प्रश्न सामने नहीं आया था और न कभी ऐसे बड़े आदमी से मिलकर इस प्रकार के मार्मिक शब्दों को सुनने का सौभाग्य हुआ था। एक ओर उनकी बताई देश के लिये हम जैसे लोगों की सेवा की ज़रूरत; दूसरी ओर भाई पर घर पर सारा बोझ लादना। मेरे भी दो पुत्र हो चुके थे और उनके भी तीन पुत्रियाँ और लड़का। मा अब तक जीवित थीं। वह क्या कहेंगी, घर के दूसरे लोगों को कैसा दुख होगा, इत्यादि भावनाएँ इतनी सताती रहीं कि जैसा ऊपर कहा है—

खाना-पीना तक प्रायः छूट गया। हम दोनों के सिवा इन बातों को दूसरा कोई जानता नहीं था। भाई साथ में ही थे, पर उनसे भी नहीं कहा। किसी दूसरे साथी से भी नहीं कहा। हाईकोर्ट जाना भी बन्द रहा। टहलना-घूमना छूट गया। कहीं-न-कहीं एकान्त ढूँढ़ कर बैठना और चिन्ता करना—यही एक काम रह गया। प्रायः दस-बारह दिनों तक यही सिलसिला चला। भाई को कुछ शक हुआ कि तबियत ठीक नहीं है। उनको कुछ कह कर टाल दिया। अभी अपना जी नहीं भरता था तो उनसे क्या कहूँ।

कई दिनों की इस प्रकार की चिन्ता के बाद मैंने एक दिन निश्चय किया कि मुझे माननीय गोखले की बात मान कर उनकी सोसाइटी में शरीक हो जाना चाहिये। मेरी हिम्मत नहीं होती थी कि भाई से मैं खुलकर कहूँ, क्योंकि मुझे डर था कि उनको इससे बहुत कष्ट होगा। मैंने एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें सब बातें खोलकर रख दीं और उनसे आज्ञा माँगी कि मुझे जाने दें। एक दिन संध्या को वह पत्र उनके बिस्तर पर, जब वह कहीं टहलने गये थे, मैंने रख दिया। मैं ख़ुद कालेज-स्क्वायर में, जो नज़दीक ही था, जाकर बैठ गया। उन्होंने पत्र पढ़ा, और मेरी तलाश करने लगे। मुलाक़ात नहीं हुई।

जब मैं लौटा तो उनका हाल-बेहाल देखा। वह उस रात तो कुछ बोल न सके। मैंने देखा कि जो विचार मुझे सता रहा था वही उनको भी सता रहे हैं। उनका जी चाहता है कि मुझे न रोकें, पर अपने को परिवार का इतना बड़ा बोझ उठाने में असमर्थ पाते हैं। वह मुझसे मिलकर फूट-फूट कर रोने लगे। मैं भी अपने को रोक न सका। मैं भी रोने लगा।

मैं तो उनके इस रोने से ही उनके मन का भाव ताड़ गया। अधिक कुछ कहने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। राय हुई कि घर चलकर माँ—चाची और बहन से भी सलाह करनी चाहिये। मैंने माननीय गोखले से जाकर यह हाल कह दिया। मैं समझ गया था कि अब मुझसे इन सबके प्रेम के बंधन को काटना नहीं हो सकेगा। ऐसा ही उनसे कह भी दिया। उन्होंने भी आशा छोड़ दी।"

आरंभ से ही राजेन्द्र बाबू बड़े प्रतिभाशाली बालक थे यह इसी बात से प्रगट है कि उन्होंने इन्ट्रेन्स से लेकर एम० ए० तक की परीक्षायें अव्वल श्रेणी में पास कीं और उनकी सारी पढ़ाई छात्रवृत्ति द्वारा हुई। यही प्रतिभा वकालत में भी चमकी और सर आशुतोष जैसे जज भी उसका लोहा मानने लगे। यदि इस ओर राजेन्द्र बाबू की शक्तियाँ लगी होतीं तो उन्हें यश, धन और सम्मान

अवश्य मिलते। परन्तु उन्होंने देश-सेवा का कार्य अपने सिर ओढ़ लिया। १९१० में जब गोखले ने उन्हें देश-सेवा के लिए पुकारा था तब वह छटपटा कर रह गये, परंतु ९—१० वर्ष बाद गाँधी जी के व्यक्तित्व ने उन्हें बरबस अपनी ओर खींच लिया और अपना सब कुछ भाई की देख-रेख में दे वे महायात्रा में चल पड़े।

घरेलू जीवन

पहले कुछ पृष्ठों में हमने ज़ीरादेई के उस कायस्थ परिवार के दैनिक जीवन का वर्णन किया है जिसमें देश-रत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने जन्म लिया है। उनका परिवार अच्छा-खासा खाता-पीता परिवार था। सात-हज़ार वर्ष की आमदनी उन दिनों काफ़ी समझी जाती थी। सारा कुटुम्ब एक छत के नीचे रहता। घर का जो बुज़ुर्ग होता, उसके इशारों पर सब चलते। राजेन्द्र बाबू ने अपने दादा चौधुर-लाल की स्नेह-छाया में अपने जीवन के प्रारंभिक दिन बिताये। उनके बड़े भाई महेन्द्रप्रसाद उनसे आठ वर्ष बड़े थे। राजेन्द्र बाबू का स्कूल और कालेज का जीवन इन्हीं के कारण निर्द्वन्द बीता। जहाँ-जहाँ भाई पढ़े, ये भी वहाँ-वहाँ उनके साथ नीचे की कक्षाओं में पढ़ते रहे। अनेक सुन्दर-सुन्दर गुण उन्होंने अपने बड़े भाई से ही, ग्रहण किये। उनके तरुण जीवन पर भी बराबर इनके बड़े भाई की छाया रही। यदि बड़े भाई गृहस्थी का सारा बोझ अपने सिर पर न उठा लेते, तो राजेन्द्र बाबू जैसे कर्तव्य-परायण महापुरुष सार्वजनिक क्षेत्र में कैसे उतर सकते और उतरते तो कहाँ

तक सफल होते, यह नहीं कहा जा सकता।

जब पाँचवे दरजे में पढ़ते थे, तभी शादी हो गई। उस समय राजेन्द्र बाबू की अवस्था १२ वर्ष से कुछ ही अधिक थी। उनकी शादी बलिया ज़िले के दलन-छपरा में हुई यह गाँव जीरादेई से १८-२० कोस दूर था। दो दिनों का रास्ता था। बीच में सरजू नदी थी जिसे नावों पर पार करना पड़ता था। अपनी 'आत्मकथा' में राजेन्द्र बाबू ने अपने विवाह का जिक्र इस प्रकार किया है—"बरात ज़ीरादेई की रस्मों को समाप्त करके रवाना हुई। हाथी-घोड़े कम होने के कारण पालकी की सवारी अधिक लेनी पड़ी और बैलगाड़ियों पर सामान चला। मैं ख़ास क़िस्म की पालकी पर, जिस पर वर जाया करते हैं, चला। घर में एक बड़ा घोड़ा था। भाई उसपर चले। वह सबको रवाना करके सबसे पीछे चले, और जहाँ दोपहर को खाने का स्थान मुक़र्रर था वहाँ सबसे पहले पहुँच गये। इन्तज़ाम में वह बहुत भाग ले रहे थे। बाबू जी पालकी पर थे। कुटुम्ब और सम्बन्ध के दूसरे लोग पालकी या दूसरी सवारियों पर।

वर की पालकी बहुत बेढंगी हुआ करती है। उसमें ऊपर से साये के लिए छत नहीं होती, पर कपड़े की छड़ियाँ बाँध दी जाती है। जेठ के महीने में शादी थी। गरमी ख़ूब पड़ रही थी। गर्म हवा भी ख़ूब चल रही थी और

मुझे उस नालकी पर जाना था। हवा से वह छहियाँ भी उड़ जाती। नालकी चाँदी की थी, इसलिए वज़न काफी था। कहारों का वज़न सम्भालना ही कठिन था और उस पर हवा के मारे छहियाँ बैलून का काम करती, बेचारे बहुत मुश्किल में थे। मैं धूप और हवा दोनों का शिकार था। × × अंत में बरात पहुँची। मेरी आदत सही शाम को ही सोने की थी, जो शादी के कारण कुछ छूटने वाली थी नहीं। मैं बरात पहुँचने के पहले ही पालकी में खूब सो गया था। पहुँचने के समय किसी तरह मैं जगाया गया और परिछादन की रसम अदा हुई। शादी की दूसरी रस्में भी एक-एक करके पूरी की गईं। गरमी में दो दिनों का सफ़र और वह भी पालकी में। साँझ ही सोने की आदत और उस पर इतनी थकावट। मेरे लिये जागते रहना कठिन समस्या थी। सब रस्में हो गईं। और मेरा शुभ विवाह भी उसी रात को हो गया। मुझे आज वे रस्में भी पूरी तरह याद नहीं हैं और न यह याद है कि उनमें मेरा क्या हिस्सा रहा। लड़कपन में मेरी बहिन गुड़ियों के विवाह का खेल किया करती और उसमें मैं भी शरीक हुआ करता था। यह विवाह मेरे लिए कुछ वैसा ही था।"

एक साल के बाद दुरागमन हुआ और बहू घर में आई। परंतु पुराने ढंग का घटाना होने के कारण वर्षों तक

पति-पत्नी एक दूसरे से मिल-बैठ नहीं सकते थे। फिर पढ़ने का समय छपरा, पटना और कलकत्ता में कटा। वकालत के ज़माने में भी ये कलकत्ते में बराबर अकेले रहे और पटने आने पर भी दो ही एक बार घर लोग थोड़े दिनों के लिए रहे। असहयोग आरंभ होने के बाद तो घर से जैसे डोरी ही कट गई। पटने का सदाक़त आश्रम भी उनका घर बन गया। इसीलिये गृहस्थ जीवन के माधुर्य से राजेन्द्र बाबू बहुत कुछ वंचित रहे हैं। परन्तु फिर भी अपनों के सुख दुःख की चिंता उन्हें बराबर लगी रही है और उन्होंने कुटुम्ब की विपद पर आँसू बहाये हैं। जो कोमल हृदय औरों के ज़रा से दुःख में विह्वल हो उठता, वह क्या अपने सगे संबंधियों के आर्तनाद से न पसीजता ?

१९२९ ई० में राजेन्द्र बाबू के भतीजे जनार्दन के एक पुत्र हुआ। पुरानी रीति के अनुसार बड़ी धूम हुई, बड़ा खर्च हुआ। पूजा-पाठ हुआ। मिठाई कपड़े बाँटे गये। छपरे के इस उत्सव में राजेन्द्र बाबू भी उपस्थित थे। बच्चा बहुत सुन्दर और होनहार निकला। घर में सब कोई उसे प्यार करता। उसे खिलाने और उसके साथ खेलने का अवसर राजेन्द्र बाबू को मिला। पाँच साल से कुछ अधिक वर्ष की आयु में यह बच्चा टाइफाइड से पीड़ित होकर जाता रहा। उसके संबंध में लिखते हुए राजेन्द्र बाबू गदगद हो

जाते हैं—'अब भी जब उसकी स्मृति आ जाती है, चित्त विह्वल हो जाता है, मैं अपने को मुश्किल से सँभाल पाता हूँ। इसलिए, जब १९४१ में मेरे बड़े लड़के मृत्युंजय के पुत्र हुआ तो मैंने सख़्ती से रोक दिया कि इसके जन्म के कारण किसी प्रकार का उत्सव न मनाया जाय।' वास्तव में १९३३ के दिन राजेन्द्र बाबू के पारिवारिक संकटों के दिन थे। उन्हीं दिनों उन्हें अपने भतीजे का निधन देखना पड़ा और बड़े भाई का देहांत भी उसी वर्ष हो गया। घर की अवस्था अच्छी नहीं थी। भाई बराबर सार्वजनिक कामों में भाग लेते थे। घर की देख-रेख भी सुचारु रूप से नहीं हो पाती थी। घर की जो आय थी, वह अधिक नहीं थी। भाई को उसके बढ़ाने की चिंता थी। उन्होंने एक चावल की मिल खोली, परन्तु घाटा हुआ। दूसरे व्यवसाय भी खड़े किये, परन्तु बार-बार घाटा हाथ पड़ा। मरने पर ६०-६५ हज़ार का कर्ज़ छोड़ा। उनके मरने के बाद राजेन्द्र बाबू को लगभग सारी ज़मींदारी बेच कर क़र्ज़ चुकाना पड़ा। इसी समय राजेन्द्र बाबू को कांग्रेस के सभापतित्व का भार भी उठाना पड़ा। परन्तु उन्होंने अपने घरेलू जीवन को नष्ट-भ्रष्ट होते देख कर भी इस भार को सँभाला।

सेठ जमनालाल बजाज की कृपा से ऋणमुक्ति हो गई और देशरत्न कांग्रेस की लड़ाई लड़ने के लिए एक

बार फिर स्वतंत्र हो गये। उनके भतीजे जनार्दन और दोनों लड़कों मृत्युञ्जय और धनञ्जय ने घर सँभाल लिया। जो थोड़ा ऋण अब भी रह गया था, उसको हटाने की चिन्ता में भी वे ही लगे। जनार्दन इँगलैण्ड से लोहा बनाने का काम सीख कर आये थे। उन्हें ताता कम्पनी में जगह मिल गई थी। वहाँ उनको ३००-३५० रुपये के लगभग मिलता था। किसी तरह काम चलता रहा। परन्तु ज़मींदारी चली गई। अपना कमाना-खाना रह गया।

इसके बाद भी राजेन्द्र बाबू घरेलू-जीवन के दुख-सुख का अनुभव करते रहे यद्यपि उनका सारा जीवन ही घर के बाहर बीतने लगा। पिछले वर्ष उन्हें अनेक पारिवारिक शोक सहने पड़े परन्तु छाती वज्र की बना कर उन्होंने उन्हें सहा। बिहार के सबसे वयोवृद्ध लोकसेवी ब्रजकिशोर बाबू से उनका निकट का सम्बन्ध हो गया था। देशरत्न के पुत्र मृत्युञ्जय का विवाह उनकी पुत्री के साथ ही हुआ था। पिछले वर्ष वह चल बसे। वैसे भी उसका शोक कम नहीं होता। परन्तु इस नाते ने शोक और बढ़ा दिया। फिर ब्रजकिशोर बाबू के श्राद्ध के अवसर पर मृत्युञ्जय की स्त्री भी चल बसी। इन पारिवारिक दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में राजेन्द्र बाबू 'आत्मकथा' में लिखते हैं—"मैं बिहार में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की ख़बर

पाकर पटने जा रहा था और रवाना होने के समय समाचार मिला। मैं वहाँ चला गया। बच्चों का कोलाहल और स्त्रियों का रोना-पीटना सुना। मृत्युंजय उसी दिन दरभंगा गए हुए थे। दो दिनों के बाद वहाँ से दाहक्रिया करके लौटे। मैं पटना जिला के गाँवों को हिन्दू-मुस्लिम दंगा रोकने के काम में लगा रहा। जहाँ इतने लोग मारे गये और इतने घरों में शोक और कोलाहल था वहाँ अपना शोक एक प्रकार से शर्मा कर दब-सा गया। + + + + राँची में बहुत दिनों तक कष्ट सहकर बच्चा प्रकाश चला गया। जब बीमारी बहुत बढ़ी तो मुझे टेलीफ़ोन से दिल्ली में ख़बर दी गई। मैं जाने की तैयारी कर ही रहा था कि ख़बर आयी कि वह चला गया। यह बहुत बड़ी चोट है। उसका बड़ा भाई मोहन १२ वर्ष पहले चला गया था। यह घाव अभी तक मौजूद है और जब याद आती है आँसू आ ही जाते हैं। अब यह दूसरी चोट निर्दय काल ने लगायी है? पर किया क्या जाय। इन बच्चों को चला जाना ही होता है तो आते ही क्यों हैं? भगवान की लीला समझ में नहीं आती।"
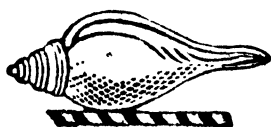
सार्वजनिक जीवन में

राजेन्द्र बाबू के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ महात्मा गांधी के सम्पर्क में आने से पहले उनके विद्यार्थी जीवन में ही हो गया था। उनको सार्वजनिक जीवन में लाने का श्रेय बहुत कुछ उनके बड़े भाई, ब्रजकिशोर बाबू और महात्मा गांधी को है। यदि अपने बड़े भाई के कलकत्ते पढ़ाई करने के कारण राजेन्द्र बाबू कलकत्ता नहीं जाते, तो यह कहना कठिन था कि वह सार्वजनिक जीवन में कहाँ तक आते। उन दिनों सारा बंगाल बंग-भंग आन्दोलन से काँप रहा था। राजेन्द्र बाबू बी० ए० के छात्र थे। ७ अगस्त १९०५ की बड़ी सभा में शरीक हुए। उस सभा में स्वदेशी का व्रत लिया गया। इस व्रत को उन्होंने बराबर निभाया। उसी वर्ष कलकत्ते में राष्ट्रीय शिक्षा की एक बड़ी संस्था खुली। इसका नाम था 'डान सोसाइटी'। इस संस्था की सभाओं में वे बराबर जाया करते और भाषण सुनते। इन भाषाओं ने ही उन्हें सार्व-जनिक जीवन के लिये तैयार किया।

कलकत्ते में पढ़ने वाले बिहारी छात्रों को छात्र-संगठन का अभाव जान पड़ा और उन्होंने छात्र-सम्मेलन नाम की एक

संस्था १९०६ में खोली। बिहार के आज के कुछ प्रमुख नेता उसके सभासद थे। सभापति थे बैरिस्टर मिस्टर शर्फुद्दीन। पहला सम्मेलन पटना कालेज के बड़े हाल में हुआ। इसमें सम्मेलन के उद्देश्य बताने का काम राजेन्द्र बाबू को ही सौंपा गया। यह भारतवर्ष में पहला छात्र-सम्मेलन था। शीघ्र ही इसको अखिल भारतीय रूप दे दिया गया। इस संस्था से पहली बार संगठन का काम सीखने का श्रेय राजेन्द्र बाबू को मिला। यह सम्मेलन प्रतिवर्ष अपना सालाना जलसा करता। १९२० तक बराबर इसके जलसे होते रहे और देशरत्न राजेन्द्र बाबू उनमें भाग लेते रहे। इस छात्र-संस्था के अनेक अगुवे युवक असहयोग आन्दोलन के नेता बन गये। राजेन्द्र बाबू इनमें से एक हैं।

१९०६ के दिसम्बर में होने वाली कलकत्ते की कांग्रेस में ही राजेन्द्र बाबू पहले-पहल स्वयंसेवक की हैसियत से शरीक हुए। कांग्रेस का अधिवेशन बड़े जोश से हुआ। गरमदल और नरमदल के सभी नेता थे। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविंद घोष, फिरोज़शाह मेहता, गोखले, सुरेन्द्र ।नाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय। दादाभाई नौरोज़ी विलायत से बुलाकर सभापति बनाये गये थे। सरोजिनी

देवी, मालवीय जी और जिन्ना के भाषण भी सुने। इस अधिवेशन को देखकर कांग्रेस के सम्बन्ध में श्रद्धा अधिक बढ़ गई। कांग्रेस में बाज़ाब्ता शरीक १९११ में हुए। यह अधिवेशन भी कलकत्ते में हुआ। इस अधिवेशन में वे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मेम्बर थे। तब से वे बराबर कांग्रेस के साथ हैं परन्तु अभी वे सब कुछ छोड़ कर सार्वजनिक जीवन में आने के लिए तैयार नहीं थे। १९१० में गोखले के प्रस्ताव पर भी वह इतने बड़े त्याग को स्वीकार नहीं कर सके थे, परन्तु १९१६ में गांधी जी के प्रभाव में आकर वे अनायास ही गृहत्यागी बन गये।

गाँधी जी १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे। १९१६ की लखनऊ की कांग्रेस में वह आये थे, परन्तु किसी प्रस्ताव पर बोले नहीं। इस समय वे कर्मवीर गाँधी के नाम से प्रसिद्ध थे। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने प्रवासी भारतीयों के लिए बहुत कुछ किया था और देश भर उनसे परिचित थे। विहार के कुछ लोगों ने उन्हें विहार में ले जाना चाहा। चम्पारन जिले के किसानों पर नीलवर (निलहे गोरे) बड़ा अत्याचार कर रहे थे। यह अत्याचार कैसे दूर हो—यह समस्या थी। गाँधी जी ने स्वयं चम्पारन जाकर परिस्थिति को जानना चाहा। चम्पारन ज़िले का सदर शहर मोतिहारी है। गाँधी जी

वहाँ पहुँचे। रास्ते में कलक्टर का हुक्म पहुँचा कि आप जिला छोड़कर चले जाइये। उन्होंने जिला छोड़ने से इनकार कर दिया। इसका फल होता गिरफ़्तारी और जेल। गाँधी जी इसके लिये तैयार थे। वे प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच राजेन्द्र बाबू से भेंट हुई। राजेन्द्र बाबू कहते हैं—"गाँधी जी को पहले-पहल देखकर मेरे ऊपर कोई असर नहीं पड़ा।" उस समय वे स्वप्न में भी नहीं सोचते थे कि उन्हें शीघ्र ही जेल जाने के लिये तैयार रहना पड़ेगा। गाँधी जी ने पूछा—"मेरे कैद हो जाने के बाद आप क्या करेंगे? क्या जेल जायेंगे?" इस पर राजेन्द्र बाबू लिखते हैं—"जेल की बात अभी हममें से कभी किसी ने कभी सोची ही न थी, जहाँ से गिरफ़्तारी के बाद भी बचने के लिए लोग हज़ारों खर्च करके जमानत पर छुट्टी लिया करते थे। अगर कोई मजबूरी से जेल गया भी तो वहाँ रुपये खर्च करके आराम करने का प्रबन्ध करता था। और यहाँ यह आदमी, जो दक्षिण में इतना काम कर आया है, + + सब कष्ट सहने के लिए तैयार है। ऐसी दशा में भी हम घर चले जायँ, यह कैसे हो सकता है? इधर बाल बच्चों की भी फ़िक्र थी।

रात-भर सोच-विचार करने के बाद, दूसरे दिन, सबेरे, जब गाँधी जी के साथ में लोग कचहरी जा रहे थे,

इनकी भावनाएँ उमड़ पड़ीं। इन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया, "आपके जेल जाने के बाद अगर जरूरत पड़ी तो हम लोग भी जेल जायँगे।"

यह सुनते ही गांधी जी का चेहरा खिल उठा। वह बहुत ही खुश होकर बोल उठे—"अब मामला फ़तह हो जायगा।"

बात ठीक थी। जेल यात्रा का जो श्रीगणेश चम्पारन से हुआ, वह आगे चलकर ही जय-यात्रा बन गई। इस जय-यात्रा में राजेन्द्र बाबू आगे-आगे थे। उन कुछ थोड़े दिनों में ही वह 'बापू' (गांधी जी) के विश्वास-पात्र बन गये और बिहार गांधीवाद का गढ़ हो गया। वैसे गांधी जी तो सारे भारत के थे, परन्तु राजेन्द्र बाबू का बिहार उन्हें सर्वप्रिय रहा है।

पीड़ितों के साथ

१९२१ में जो गांधी की आँधी उठी, उसके साथ न जाने कितनी शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं। एक शक्ति बाबू राजेन्द्र प्रसाद थे। तब से आज तक वे बराबर कांग्रेस की एक बड़ी शक्ति रहे थे। उनसे देश को बड़ा बल मिला है। भारतवर्ष के एक दरजन बड़े नेताओं में वे बहुत दिनों तक गिने गये हैं और आज तो वे विधान सभा के सभापति, कांग्रेस के राष्ट्रपति और अनेक छोटी बड़ी संस्थाओं के सब कुछ हैं। गांधी जी तो अब रहे नहीं नेहरू, पटेल, राजेन्द्र बाबू और मौलाना आजाद। आज यह चार तो उसकी सत्य और अहिंसा की महान मशाल लेकर चल रहे हैं। गांधी जी की हिमालय जैसी ऊँचाई ने बड़ों को छोटा कर दिया। अकेले नेहरू कुछ बहुत ऊपर उठ सके। राजेन्द्र बाबू तो वैसे ही बड़े विनम्र हैं। परन्तु उतनी ऊँचाई तक पहुँचना भी कोई साधारण बात नहीं है।

परन्तु कांग्रेस के अग्रनेताओं के साथ रहते हुए भी अपने स्वभाव के अनुसार राजेन्द्र बाबू ने एक विशेष काम हाथ में ले लिया था। वह था पीड़ितों और दीन-दुखियों का काम।

बाढ़ों, भूचालों और महामारियों के समय लाखों-लाखों असहायों को जीवित रखना, उनके अन्न-वस्त्र के साधन जुटाना, उनके लिए 'रिलीफ' (सहायता) का संगठन कोई साधारण बात नहीं है। इस काम में राजेन्द्र बाबू जैसा दक्ष देश भर में कोई नहीं है। इस कार्य के लिए उनका मुख्य-क्षेत्र उनका प्रांत बिहार ही रहा है। बिहार बड़ी-बड़ी नदियों का देश है। बाढ़ तो प्रत्येक वर्ष की दुःख गाथा है। परन्तु भूकम्प केवल एक बार आया और इतना भयंकर कि अब तक उसकी स्मृति ताज़ी है। उस समय राजेन्द्र बाबू अंगरेज सरकार के बन्दी थे। वे पटने के अस्पताल में इलाज करा रहे थे। उनके छूटने की आशा भी भूकम्प से दो दिन पहले हो चुकी थी। भूकम्प के समय तक यह आज्ञा अधिकारियों के पास नहीं आ सकी और दो दिन बाद आई। भूकम्प आया तो ये पटना के अस्पताल में ही थे। बाद को छूटे और बिस्तर पर पड़े पड़े ही पीड़ितों की सहायता का काम आरम्भ कर दिया। भारतवर्ष के इतिहास में भूचाल के सम्बन्ध में इतना संगठित काम कभी नहीं हुआ। सारा उत्तर बिहार खंडहर हो गया था। जान पड़ता था, सच ही शेष-नाग का फन डोल गया है। लाखों-लाखों प्राणियों की बात थी। जिस धैर्य और बुद्धिमत्ता से यह काम राजेन्द्र

बाबू ने किया, वह इतिहास के पृष्ठों में अमर रहेगा। भूकम्प के कारण लोगों के घर गिर गये, जो कुछ घर में था, बर्बाद हो गया। खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़े नहीं। अन्न मिले भी तो उसे पकाने के लिए बर्तन नहीं। रहने को घर नहीं। कुएँ बंद हो गये। तालाबों में बालू भर गई। इसलिये पीने को पानी नहीं। ऐसी दुर्व्यवस्था में कोई क्या करता, फिर कितना करता। जितना हो सका, उसका सबसे बड़ा श्रेय राजेन्द्र बाबू को ही मिलेगा।

भूकंप का काम समाप्त नहीं हुआ था कि ,प्रान्त में बड़ी भारी बाढ़ आ गई। भूकंप के कारण नदियों के धरातल में भी उथल-पुथल हो गई थी। बरसात में बाढ़ की आशंका थी। वह सच भी निकली। भूकंप और फिर इस बाढ़ के कारण सैकड़ों गाँव उजड़ गये और अनेक नये गाँव बाद को बसाने पड़े। अनेक देशी-विदेशी सहायकों की एक बड़ी सेना के साथ राजेन्द्र बाबू ने प्रकृति से एक वर्ष से अधिक समय तक घोर युद्ध किया। पर अंत में विजय उनकी रही। जहाँ नालों में गंदा पानी भर गया था, वहाँ एक बार फिर हरी बालें लहराने लगीं और नई-नई बस्तियों में फिर पहले जैसी चहल-पहल हो गई।

यह तो हुई प्रकृति द्वारा उत्पन्न बवंडर की बात। परंतु मनुष्य भी कम बवंडर उत्पन्न नहीं करता। हमारे देश

के हिंदू-मुसलिम दंगे इसी प्रकार के बवंडर हैं। जब-जब बिहार में हिन्दू-मुसलिम दंगे हुये हैं, देशरत्न पीड़ितों की सहायता में सदा आगे रहे हैं। अभी पिछले वर्षों में जो बड़ा साम्प्रदायिक जनसंहार हुआ था, उस पागलपन के बाद देशरत्न के सिवा आँसू पोंछने वाला कौन था। वह नेहरू जी के साथ गाँव-गाँव गये। बिजली की तरह प्रांत भर में दौड़ कर उन्होंने पागल भाइयों के हाथ पकड़े और प्रेम की ढाल पर खड्ग की चाट को कुंठित किया। जब-जब देश में; पीड़ितों, असहायों, अछूतों और अपाहजों ने पुकारा है, दीनबंधु राजेन्द्र बाबू नंगे पैर दौड़ते आये हैं। लड़ाई के बाद जब कांग्रेस ने बागडोर सँभाली तो अकाल का दानव सामने आ खड़ा हुआ। उस समय राजेन्द्र बाबू के हाथ ही अन्नपूर्णा के हाथ बने।

राष्ट्रपति

१९३३ के भयंकर भूकम्प के बाद देशरत्न राजेन्द्र बाबू ने देश का हृदय इतना जीत लिया था कि कांग्रेस की गद्दी की पुकार उनके लिए हुई। गाँधी जी ने भी आग्रह किया और अस्वस्थ रहते हुए भी उनकी बात माननी पड़ी। अभी इस वर्ष वे फिर दुबारा कांग्रेस के सभापति बने हैं। समय नाजुक था। आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस के सभापति-पद से इस्तीफा दे दिया था। उस समय परखे हुए कर्णधार की आवश्यकता थी जिसे एक ओर जनता का बल प्राप्त होता, दूसरी ओर सरकार का विश्वास। आज तो देश स्वतंत्र है। हमारे अपने नेता ही सरकार चला रहे हैं। परन्तु कांग्रेस तो प्रत्येक अवस्था में सरकार से स्वतंत्र, सरकार से भी बड़ी, लोकसेवी संस्था होनी चाहिये। इसीलिए कांग्रेस के सभापति का आज भी महत्व है। वही हमारा सबसे बड़ा लोकनायक है। परन्तु इस लोकनायक और जनता द्वारा चुने राजपति में विरोध क्यों हो? जनता और सरकार के बीच की खाही राजेन्द्र बाबू ही पाट सकते थे। वही चुने गये। आज देश के करोड़ों-करोड़ों लोक-सेवकों का नेतृत्व उनके हाथों में सुरक्षित है। देश का शासन जवाहरलाल करते हैं। परन्तु

अब तो गांधी जी नहीं रहे। कांग्रेस को उनके आदेशानुसार लोक सेवी संस्था बनाना है। इस लोक-सेवी संस्था को सेवाप्राण राजेन्द्र बाबू से अधिक चतुर सेनापति कौन मिल सकता है—ये हैं हमारे राष्ट्रपति। ऐसे हैं राजेन्द्र बाबू। वे सच्चे मानी में दीन-बंधु है। उनके पास जवाहर लाल जैसी स्फूर्ति नहीं है, बल्लभ भाई जैसी कठोर गंभीरता नहीं है, आज़ाद जैसा बाग्विलास नहीं है। वे तो दूध से निर्मल हैं, मोम की तरह कोमल हैं। सेवाधर्मी, मधुरभाषी, आशुतोष राजेन्द्र बाबू इतने अधिक सामान्य होकर ही इतने अधिक असामान्य बन सके हैं। वैसी मृदुता, वैसी वत्सलता, वैसी आर्द्रता, वैसी कर्तव्य परायणता, वैसी संगठन बुद्धि किन-किन में है? गाँधी जी का एक प्रिय गीत है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे
पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे
सकल लोक माँ सहुने वंदे निन्दा न करे केनी रे
बाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे
मोह माया नहिं व्यापे जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमा रे
रामनामशु ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे
वण लोभी ने कपट रहित छे, कामक्रोध निवार्या रे
भणे नरसैंयों तेनु दरसन करता, कुल एकोतेर तार्या रे

सच पूछो, तो इस गीत के वैष्णव का पूरा-पूरा जीवित चित्र राजेन्द्र बाबू हैं। मान-मद नहीं, विद्या-मद नहीं, राज-मद नहीं। जिसने पर सेवा को ही जीवन का व्रत बना लिया है उससे बड़ा वैष्णव कौन होगा? पारिवारिक दुःखों को छोटे से हृदय में समेटे हुए राजेन्द्र बाबू लिखते हैं—"भगवान की लीला समझ में नहीं आती। एक तरफ़ विपत्ति पर विपत्ति और दूसरी तरफ़ एक पर एक काम के बोझ बढ़ता जाना। इतना भी समय नहीं मिलता कि दुःखी परिवार के लोगों के साथ कुछ समय बिताऊँ। पर मैं जानता हूँ कि इसमें भी ईश्वर का हाथ है। वह जो चाहे करे और करावे।" इतना बड़ा ईश्वर विश्वास लेकर तीस वर्ष से अधिक समय से परिवार से अलग, पत्नि-पुत्रों के सुखों से दूर, जो व्यक्ति लाख-लाख स्त्री-पुरुषों, सैकड़ों अकाल-पीड़ितों और निःसहायों की सेवा करता रहा है, उस ईश्वर-विश्वासी से बड़ा वैष्णव कहाँ मिलेगा? जनता ही जिसके लिए जनार्दन है, उसे किस मंदिर में जाकर राम-नाम लेना है? ऐसे परम-वैष्णव सेवाव्रती राजेन्द्र बाबू को शतशत प्रणाम!

जय हिन्द! महात्मा गांधी की जय!!

१२ फरवरी १९४८
गांधी जी का श्राद्ध दिवस